उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

बनाम

अरविंद कुमार श्रीवास्तव एवं अन्य

(सिविल अपील संख्या 9849/2014)

अक्टूबर 17,2014

[जे. चेलामेश्वर और ए. के. सिकरी, न्यायाधिपतिगण]

सेवा न्यायशास्त्र - सेवा मामले - लागू किए जाने वाले सिद्धांत - अभिनिर्धारित: जब कर्मचारियों के एक विशेष समूह को अदालत द्वारा राहत दी जाती है, तो अन्य सभी समान रूप से स्थित व्यक्तियों को उस लाभ को बढ़ाकर समान व्यवहार करने की आवश्यकता होती है, अन्यथा यह भेदभावपूर्णहोगा और अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होगा - हालाँकि, यह सिद्धांत रुकावटों और देरी के साथ-साथ स्वीकृति के रूप में अपवादों के अधीन है - जहां न्यायालय का निर्णय समान रूप से स्थित सभी व्यक्तियों को लाभ देने के इरादे से था, चाहे उन्होंने न्यायालय से संपर्क किया हो या नहीं, प्राधिकारियों पर इसका लाभ सभी समान स्थिति वाले व्यक्तियों तक पहुंचाने का दायित्व है - और जहां निर्णय व्यक्तिगत रूप से था, उक्त निर्णय का लाभ अदालत के समक्ष पक्षों को मिलेगा - तथ्यों पर, उत्तरदाताओं ने उनकी नियुक्ति के रद्दीकरण आदेश को चुनौती दी, नौ साल की अवधि के बाद, यह पता चलने पर कि कुछ अन्य व्यक्तियों, जिनके नियुक्ति आदेश भी रद्द कर दिए गए थे, को राहत मिल गई है - 9 साल के बाद दावा याचिका दायर करने में अस्पष्ट देरी और देरी हुई थी - प्रतिवादी न तो सेवा में शामिल हुए हैं और न ही कर्मचारियों की तरह काम कर रहे हैं, जो न्यायाधिकरण के समक्ष पहले के मामलो में सफल रहे है - इस प्रकार, उत्तरदाताओं को 27 साल की अवधि के बाद आज की तारीख में नियुक्ति नहीं दी जा सकती है।

न्यायालय ने अपील स्वीकार करते हुए,अभिनिर्धारित किया

1.1 सामान्य नियम यह है कि जब कर्मचारियों के एक विशेष समूह को न्यायालय द्वारा राहत दी जाती है, तो अन्य सभी समान स्थिति वाले व्यक्तियों के साथ उक्त लाभ को बढाते हुये एक जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए। ऐसा न करना भेदभाव के समान होगा और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होगा। इस सिद्धांत को सेवा मामलों में अधिक सशक्त रूप से लागू करने की आवश्यकता है क्योंकि समय-समय पर इस न्यायालय द्वारा विकसित सेवा न्यायशास्त्र यह मानता है कि सभी समान स्थिति वाले व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। इसलिए, सामान्य नियम यह होगा कि केवल इसलिए कि समान स्थिति वाले अन्य व्यक्ति पहले अदालत में नहीं आए, उनके साथ अलग व्यवहार नहीं किया जाएगा। हालाँकि, यह सिद्धांत लापरवाही और देरी के साथ-साथ स्वीकृति के रूप में अच्छी तरह से मान्यता प्राप्त अपवादों के अधीन है। वे व्यक्ति जिन्होंने अपने मामलों में गलत कार्रवाई को चुनौती नहीं दी और उसे स्वीकार कर लिया और लंबी देरी के बाद केवल इस कारण से जागे कि उनके समकक्ष जिन्होंने समय से पहले अदालत का दरवाजा खटखटाया था, वे अपने प्रयासों में सफल हुए, तो ऐसे कर्मचारी यह दावा नहीं कर सकते हैं कि समान स्थिति वाले व्यक्तियों के मामले में दिए गए निर्णय का लाभ उन तक पहुंचाया जाए। उन्हें बाड़-बैठक और लापरवाही बरतने वाला माना जाएगा और देरी, और/या स्वीकृति, उनके दावे को खारिज करने के लिए एक वैध आधार होगा। हालाँकि, यह अपवाद उन मामलों में लागू नहीं हो सकता है जहाँ न्यायालय द्वारा सुनाया गया निर्णय सभी समान स्थिति वाले व्यक्तियों को लाभ देने के इरादे से दिया गया निर्णय था, चाहे उन्होंने न्यायालय से संपर्क किया हो या नहीं। इस तरह की घोषणा के साथ अधिकारियों पर यह दायित्व आ जाता है कि वे इसका लाभ समान स्थिति वाले सभी व्यक्तियों तक पहुंचाएं। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न हो सकती है जब निर्णय का विषय

नीतिगत मामलों, जैसे योजना या नियमितीकरण, से जुड़ा हो। दूसरी ओर, यदि न्यायालय का निर्णय व्यक्तिगत रूप से यह मानता है कि निर्णय का लाभ न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को मिलेगा, तो ऐसा इरादा निर्णय में स्पष्ट रूप से कहा गया है, इसे भाव और भाषा से स्पष्ट रूप से पता लगाया जा सकता है। जो लोग उक्त फैसले का लाभ पाना चाहते हैं, उन्हें इस बात से संतुष्ट होना होगा कि उनकी याचिका में कमी या देरी या सहमति नहीं है। [पैरा 23] [215-एच; 216-ए-एच; 217- ए-बी]

1.2. मौजूदा मामले में, चयन प्रक्रिया वर्ष 1986 में हुई थी। नियुक्ति आदेश वर्ष 1987 में जारी किए गए थे, लेकिन 22 जून, 1987 के आदेश के जरिए रद्द भी कर दिए गए थे। उत्तरदाताओं ने वर्ष 1996 तक इन रद्दीकरण आदेशों को चुनौती नहीं दी यानि कि 9 वर्ष की अवधि के लिए, इसका अर्थ यह है कि उन्होंने अपनी नियुक्तियाँ रद्द करना स्वीकार कर लिया था। वे वर्ष 1996 में तब जागे जब उन्हें पता चला कि कुछ अन्य व्यक्तियों, जिनकी नियुक्ति आदेश रद्द कर दिए गए थे, को भी राहत मिल गई। उस समय तक नौ वर्ष बीत चुके थे। पहले के फैसले ने अदालत के समक्ष पक्षों को राहत दी थी। ये उत्तरदाता न तो सेवा में शामिल हुए हैं और न ही उन कर्मचारियों की तरह काम कर रहे हैं जो न्यायाधिकरण के समक्ष पहले मामले में सफल हुए थे। आज तक, रद्दीकरण आदेश जारी होने के बाद 27 साल बीत चुके हैं। इसलिए, न केवल 9 साल की अवधि के बाद दावा याचिका दायर करने में अस्पष्ट देरी और लापरवाही हुई, बल्कि उन्हें आज की तारीख में, यानी 27 साल की अवधि के बाद नियुक्ति देने का निर्देश देना पूरी तरह से अन्यायपूर्ण होगा, जब इनमें से अधिकांश उत्तरदाताओं की आयु लगभग एक वर्ष या उससे अधिक होगी। इस प्रकार, उच्च न्यायालय के आदेश के साथ-साथ न्यायाधिकरण का आदेश भी रद्द कर दिया गया। [पैरा 24] [217-सी-जी]

इंद्रपाल यादव एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य 1985 (3) एससीआर 837: (1985) 2 एससीसी 648; के.सी. शर्मा एवं अन्य बनाम भारत संघ 1997 (3) सप्ली एससीआर 87 : (1997) 6 एससीसी 721; कर्नाटका राज्य एवं अन्य बनाम सी. ललिता 2006 (1) एससीआर 971: (2006 2 एससीसी 747; एन.टी. डेविन कट्टी बनाम कर्नाटक लोक सेवा आयोग (1990) 3 एससीसी 157; महाराज कृष्ण भट्ट अन्य बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य 2008 (11 एससीआर) 670: (2008) 9 एससीसी 24; मेसर्स रूप डायमंड्स एवं अन्य बनाम यूनियन ऑफ इंडिया एवं अन्य 1989 (1) एससीआर 13 : (1989) 2 एससीसी 356; कर्नाटक राज्य और अन्य बनाम एस. एम. कोटरय्या और अन्य 1996 (5) पूरक एससीआर 426: (1996) 6 एस. सी. सी. 267; एस. एस. राठौर बनाम एम. पी. राज्य 1989 (1) पूरक एससीआर 43: (1989) 4 एससीसी 582; यू. पी. जल निगम और अन्य बनाम जसवंत सिंह और अन्य 2006 (8) पूरक एससीआर 916 : (2006) 11 एस. सी. सी. 464 ; हर्विंद्र कुमार बनाम मुख्य इंजीनियर, कर्मिक 2005 (5) पूरक एससीआर 317: (2005) 13 एस. सी. सी. 300 - संदर्भित।

हैल्सबरी के इंग्लैंड के नियम पैरा 911, पृष्ठ 395- संदर्भित किया गया।

कानून मामला संदर्भः

1985 (3) एससीआर 837	संदर्भित किया गया	पैरा 11
1997 (3) पूरक एससीआर 87	संदर्भित किया गया	पैरा 12
2006 (1) एससीआर 971	संदर्भित किया गया	पैरा 13
(1990) 3 एससीसी 157	संदर्भित किया गया	पैरा 14
2008 (11) एससीआर 670	संदर्भित किया गया	पैरा 15
1989 (1) एससीआर 13	संदर्भित किया गया	पैरा 17

1996 (5) पूरक। एससीआर 426 संदर्भित किया गया पैरा 19

1989 (1) पूरक एससीआर 43 संदर्भित किया गया पेरा 19

2006 (8) पूरक एससीआर 916 संदर्भित किया गया पैरा 20

2005 (5) पूरक। एससीआर 317 संदर्भित किया गया पैरा 20

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार : सिविल अपील संख्या 9849/2014

रिट याचिका संख्या 1988/2011 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय लखनऊ पीठ के निण्रय एवं आदेश दिनांक 01.02.2012 से।

पी. एन. मिश्रा, अभिषेक कुमार, सुदीप कुमार, सोम राज चोधरी, अपीलार्थी के लिये।

एस. आर. सिंह, प्रवीण स्वरूप, सुषमा वर्मा, आर. के. सिंह, सुशांत के. यादव, मोहम्मद मुजताबा, नमिता चौधरी, पुनीत जैन, क्रिस्टी जैन, खुशबू जैन, छाया कीर्ति, प्रतिभा जैन, प्रतिवादीगण के लिये।

न्यायालय का निर्णय ए. के. सीकरी न्यायधिपति द्वारा दिया गया था।

1. अनुमति प्रदान की गई।

2. यह अपील, उत्तर प्रदेश राज्य और उसके पदाधिकारियों द्वारा दायर की गई है, उच्च न्यायालय के आदेश को चुनौती देती है जिसके तहत अपीलकर्ताओं द्वारा दायर रिट याचिका खारिज कर दी गई है और उत्तर प्रदेश लोक सेवा न्यायाधिकरण, लखनऊ के यहां उत्तरदाताओं के पक्ष में पारित आदेश (संक्षेप में, 'ट्रिब्यूनल') की पुष्टि की जाती है।

3. शुरुआत में उल्लेख करने के लिए, न्यायाधिकरण के साथ-साथ उच्च न्यायालय ने उत्तरदाताओं को समान स्थिति वाले व्यक्तियों द्वारा दायर मुकदमे के

पहले दौर में न्यायालय द्वारा पारित आदेश का लाभ दिया है। अपीलकर्ताओं का तर्क है कि जहां तक इन उत्तरदाताओं का सवाल है, उन्होंने कभी भी इस तरह की राहत के लिए अदालत का दरवाजा नहीं खटखटाया और वे केवल बाड़-बैठक थे और इसलिए, उन्हें राहत नहीं दी जानी चाहिए थी, भले ही वे उन व्यक्तियों के समान स्थिति में थे जिनके द्वारा दायर याचिकाओं में उन्हे राहत दी गई है। दूसरी ओर, उत्तरदाताओं का तर्क है कि एक बार जब यह पाया जाता है कि दोनों समूहों के व्यक्तियों को समान रूप से रखा गया है, तो उन्हें समान लाभ देने वाले विवादित आदेश भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित संवैधानिक जनादेश के अनुरूप हैं।

4. मौजूदा अपील में ऐसी स्थिति पहली बार नहीं आई है। इस कोर्ट के कई फैसले हैं। यदि उन निर्णयों के अकेले परिणाम को देखा जाए, तो यह पाया जाएगा कि कुछ मामलों में न्यायालयों ने समान स्थिति वाले व्यक्तियों को लाभ दिया है, जबकि, कुछ अन्य मामलों में समान लाभ उन लोगों के दूसरे समूह को देने से इनकार कर दिया गया है, जिन्होंने बाद में न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। हालाँकि, मामलों के इन दो सेटों के तर्क और तर्क की गहराई से जांच करने पर, एक विभिन्न परिणामों के पीछे के तर्क को मानसिक रूप से समझने में सक्षम है। किन परिस्थितियों में ऐसा लाभ दिया जा सकता है और उसे अस्वीकार करने के क्या कारण हैं, यह उन निर्णयों पर ध्यान देने के बाद समझा जाएगा। लेकिन, उस अभ्यास को करने से पहले, यह समझने और सराहना करने के लिए कि उत्तरदाताओं को कैसे रखा जाता है, इस मामले के तथ्यों पर ध्यान देना उचित होगा।

5. वर्ष 1986 में किसी समय मुख्य चिकित्सा अधिकारी, वाराणसी ने विभिन्न समाचार पत्रों में होम्योपैथिक कंपाउंडर और वार्ड बॉय के कुछ पदों का विज्ञापन दिया था। यहां उत्तरदाताओं ने उक्त पद के लिए आवेदन किया और चयन प्रक्रिया में भाग लिया। साक्षात्कार के बाद उन्हें प्रतीक्षा सूची में रखा गया। जो लोग चयन सूची में थे

उन्हें नियुक्तियों की पेशकश की गई। उनमें से कुछ उम्मीदवार जो मेरिट में ऊपर थे और उन्हें नियुक्तियों की पेशकश की गई थी, उन्होंने ज्वाइन नहीं किया। इस कारण प्रतीक्षा सूची के अभ्यर्थियों को तत्कालीन मुख्य चिकित्साधिकारी द्वारा नियुक्ति पत्र जारी कर दिये गये। इनमें यहां के उत्तरदाता भी शामिल थे। हालाँकि, इससे पहले कि उत्तरदाता अपने कर्तव्यों में शामिल हो पाते, नए मुख्य चिकित्सा अधिकारी ने कार्यभार ग्रहण कर लिया और उनकी ज्वाइनिंग रोक दी। इसके बाद, 22 जून, 1987 के आदेश के तहत उन्होंने अपने पूर्ववर्ती द्वारा इन क्लास-III और क्लास-IV पदों यानी होम्योपैथिक कंपाउंडर और वार्ड बॉय के लिए की गई नियुक्तियों को भी रद्द कर दिया।

6. प्रतिवादियों ने सिटी मुंसिफ, वाराणसी की अदालत में 22 जून, 1987 के उपरोक्त आदेशों को चुनौती देते हुए मुकदमा दायर किया, जिसमें नए मुख्य चिकित्सा अधिकारी द्वारा उनकी नियुक्तियों को रद्द कर दिया गया था। यह मुकदमा वाद संख्या 695/1987 के रूप में दर्ज किया गया था. ऐसा प्रतीत होता है कि इस मुकदमे को तार्किक निष्कर्ष तक नहीं ले जाया जा सका क्योंकि उत्तरदाताओं के वकील की अनुपस्थिति के कारण इसे गैर-अभियोजन के कारण खारिज कर दिया गया था। यहां प्रतिवादियों ने उक्त मुकदमे में कोई आगे कदम नहीं उठाया, न तो मुकदमे की बहाली के लिए आवेदन दायर किया और न ही अपील में उक्त आदेश को चुनौती दी। वास्तव में, इन उत्तरदाताओं की ओर से पूर्ण शांति थी।

7. ऐसा हुआ कि कुछ अन्य उम्मीदवार जो 22 जून, 1987 के उसी आदेश से प्रभावित थे, जिसके तहत उनकी नियुक्तियाँ रद्द कर दी गई थीं, उन्होंने कई आधारों पर उक्त आदेश की वैधता, वैधता और स्वामित्व को चुनौती देते हुए न्यायाधिकरण का दरवाजा खटखटाया। इनमें से एक आधार यह था कि उनकी नियुक्तियाँ रद्द करने से पहले उन्हें कोई कारण बताओ नोटिस नहीं दिया गया था। न्यायाधिकरण ने उनके द्वारा दायर मामले का फैसला उनके पक्ष में 16 अगस्त, 1991 के फैसले के जरिए

किया, जिसमें 22 जून, 1987 के विवादित आदेश को अवैध और शून्य करार दिया गया और उसे रद्द कर दिया गया। न्यायाधिकरण के आदेश के खिलाफ राज्य ने उच्च न्यायालय में रिट याचिका दायर की। यह रिट याचिका 27 अगस्त 1992 को खारिज कर दी गई, जिससे न्यायाधिकरण द्वारा पारित आदेश की पुष्टि हुई। राज्य द्वारा दायर विशेष अनुमति याचिका का भी वही हश्र हुआ, जिसे इस न्यायालय ने 12 अगस्त, 1994 को खारिज कर दिया था। इस तरह, न्यायाधिकरण का 16 अगस्त, 1991 का आदेश अंतिम हो गया और जिन व्यक्तियों ने न्यायाधिकरण से संपर्क किया था, उन्हें नियुक्तियां मिल गई।

8. यहां उत्तरदाताओं ने इतने समय तक, यानी वर्ष 1994 में विशेष अनुमति याचिका के खारिज होने तक इंतजार किया। उसके बाद ही, वर्ष 1995 में, उत्तरदाताओं ने समता का दावा करने वाले अन्य व्यक्तियों के मामले में दिए गए न्यायाधिकरण के फैसले की ताकत के आधार पर उन्हें भी नियुक्ति देने के लिए एक अभ्यावेदन दिया। इस अभ्यावेदन को मुख्य चिकित्सा अधिकारी द्वारा दिनांक 06 जून 1995 के आदेश द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इस अस्वीकृति के खिलाफ उत्तरदाताओं ने दावा याचिका संख्या 96/1996 दायर करके न्यायाधिकरण का दरवाजा खटखटाया। जैसा कि ऊपर बताया गया है, न्यायाधिकरण ने उक्त याचिका को इस आधार पर स्वीकार कर लिया था कि वे उसी स्थिति में थे जिसमें अन्य सफल उम्मीदवारों को राहत दी गई थी और इस तरह ये उत्तरदाता भी उसी राहत के हकदार थे। उच्च न्यायालय ने न्यायाधिकरण के आदेश की पुष्टि की है।

9. विवादास्पद प्रश्न जिसके निर्धारण की आवश्यकता है वह यह है कि क्या दिए गए मामले में, न्यायाधिकरण के पहले के फैसले का लाभ देने में न्यायाधिकरण और उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण सही था, जो कि अंतिम रूप ले चुका था और जो कि सर्वोच्च न्यायालय तक पुष्ट हुआ था। जबकि अपीलकर्ताओं का तर्क है कि उत्तरदाताओं

ने समय पर अदालत से संपर्क नहीं किया और वे बाड़-बैठक थे और इसलिए, देर से न्यायिक मंच पर जाकर उक्त निर्णय का लाभ पाने के हकदार नहीं थे। वे कुछ विशिष्ट विशेषताओं की भी वकालत करते हैं जिनके आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि यहां उत्तरदाताओं का मामला उस मामले के बराबर नहीं है जिसे न्यायाधिकरण ने निपटाया था जिसमें 22 जून, 1987 को उन लोगों को लाभ देते हुए आदेश पारित किया गया था, जिन अभ्यर्थियों ने उस समय न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। दूसरी ओर, उत्तरदाताओं का दावा है कि उनका मामला उन लोगों के समान है जिन्होंने न्यायाधिकरण के समक्ष आवेदन दायर किया था क्योंकि प्रतिवादियों की नियुक्तियाँ भी 22 जून, 1987 के उसी आदेश द्वारा रद्द कर दी गई थीं और इसलिए, इनकार करने का कोई कारण नहीं है। वही व्यवहार जो उक्त व्यक्तियों के साथ किया गया था, क्योंकि इससे इनकार करना घृणित भेदभाव होगा जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 के तहत निहित समानता के अधिकार के लिए अभिशाप है।

10. यह ध्यान देने वाली बात है कि दोनों पक्षों ने, अपने संबंधित प्रस्तुतियों के समर्थन में, कुछ निर्णयों का उल्लेख किया है और उन्हें पढ़ने से यह प्रदर्शित होगा कि कुछ मामलों में किसी विशेष न्यायिक घोषणा का लाभ उन लोगों को दिया जाता है जो समानता का सिद्धांत पर समान रूप से स्थित हैं। दूसरी ओर, दूसरे समूह को इस तरह के लाभ से इनकार करने वाले निर्णयों की एक श्रृंखला है जो बाद में न्यायालय का दरवाजा खटखटाती है, भले ही उक्त दूसरा समूह पहले समूह से संबंधित व्यक्तियों के समान ही स्थित हो। हालाँकि, मामलों के दो सेटों के बीच कोई विरोधाभास नहीं है। उन सिद्धांतों का पता लगाने के लिए जिनके आधार पर पहले के फैसले का लाभ बाद में आने वाले लोगों को दिया जाता है और जिन स्थितियों में इस तरह के लाभ से इनकार किया जाता है, हमें इन विवरणों की यात्रा करनी होगी और स्पष्ट मापदंडों का निर्धारण करना होगा।

11. आइए सबसे पहले उन निर्णयों पर ध्यान दें, जिनका उल्लेख उत्तरदाताओं के विद्वान वकील ने किया था, जहां इस न्यायालय ने समान स्थिति वाले व्यक्तियों को समान लाभ देते हुए पहले के निर्णयों के अनुपात को लागू किया है। इन मामलों की श्रृंखला में पहला मामला, उत्तरदाताओं के लिए विद्वान वकील द्वारा संदर्भित इंद्रपाल यादव एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य' का निर्णय है। यह एक ऐसा मामला था जहां एक वर्ष से अधिक समय से लगातार रेलवे परियोजनाओं पर कार्यरत कैजुअल श्रमिकों की सेवाओं को इस आधार पर समाप्त कर दिया गया था कि जिन परियोजनाओं में ये कैजुअल श्रमिक काम कर रहे थे, वे बंद हो चुकी थीं। उनकी समाप्ति को चुनौती देते हुए, भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत रिट याचिकाएँ इस न्यायालय में दायर की गईं। इन याचिकाओं के लंबित रहने के दौरान, रेलवे प्रशासन ने 360 दिनों के निरंतर रोजगार के पूरा होने पर उन्हें अस्थायी श्रमिकों के रूप में समाहित करने की योजना बनाई। यह योजना उन लोगों के लिए लागू की गई थी जो 01 जनवरी, 1984 को सेवा में थे। इस विकास के मद्देनजर, रिट याचिकाओं को जांच के लिए सुनवाई के लिए रखा गया था। योजना की निष्पक्षता और औचित्य, विशेष रूप से इस मुद्दे पर कि क्या 01 जनवरी, 1984 की तारीख का चुनाव मनमाना या भेदभावपूर्ण था। न्यायालय 01 जनवरी, 1984 को कट ऑफ तिथि के रूप में इस आधार पर निर्धारित करने से उत्साहित नहीं था कि इससे समान स्थिति वाले व्यक्तियों के बीच एक द्वेषपूर्ण अंतर पैदा होने की संभावना थी और न्यायालय के आकस्मिक आदेश से कुछ श्रमिकों को मनमाने भेदभाव का सामना करना पड़ सकता था। यह देखा गया कि कुछ मामलों में, न्यायालय ने श्रमिकों की छंटनी से पहले अंतरिम रोक लगा दी थी, जबकि कुछ अन्य मामलों में ऐसा कोई अंतरिम आदेश पारित नहीं किया गया था। इस प्रकार, छंटनी के आदेश पर रोक/निलंबन द्वारा अंतरिम राहत दिए जाने के परिणामस्वरूप, उक्त अंतरिम आदेश से लाभान्वित

व्यक्तियों को 01 जनवरी, 1984 को सेवा में माना गया। जो लोग अंतरिम राहत प्राप्त करने में विफल रहे, उनकी सेवाएं इस बीच समाप्त कर दी गई, और इसलिए, वे 01 जनवरी 1984 को सेवा में नहीं थे। कोर्ट ने बताया कि हालांकि दोनों समूह एक ही श्रेणी के हैं, एक श्रेणी को 01 जनवरी 1984 की कट ऑफ डेट के साथ योजना का लाभ मिल सकता है जबकि अन्य वर्ग को योजना का लाभ/ अग्रिम प्राप्त करने में असफल रहेंगे। न्यायालय ने यह भी कहा कि इसी तरह की स्थिति वाले कुछ अन्य व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो अदालत तक पहुंचने में सक्षम नहीं होंगे और उन्हें भी छोड़ दिया जाएगा। इन कारणों को बताते हुए, योजना में निर्धारित 01 जनवरी, 1984 की तारीख को रद्द कर दिया गया और न्यायालय ने रेलवे प्रशासन द्वारा बनाई गई योजना को स्वीकार करते हुए, 01 जनवरी, 1984 से 01 जनवरी, 1981 तक की तारीख को संशोधित कर दिया। ऐसा करते हुये कारण बताए गए:

> "5... एक और क्षेत्र है जहां भेदभाव अपना कुरूप सिर उठाने की संभावना है। ये कर्मचारी रेलवे सेवा के सबसे निचले स्तर से आते हैं। वे अदालत में जाने का जोखिम नहीं उठा सकते। उनके संघों ने शायद ही कोई सहायता की है। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से धन इकट्ठा करने और अदालत में जाने के लिए किया, जो कुछ मामलों में उनकी पहुंच से परे हो सकता है। इसलिए, कुछ छंटनी किए गए कर्मचारी न्याय के दरवाजे पर जाने में विफल रहे क्योंकि ये दरवाजे तब तक नहीं खुलते जब तक कि भारी खर्च न किया जाए। ऐसे में विकल्प स्थिति, क्रिस्टल टकटकी के बिना भी अनिश्चित परिणाम और दिन-प्रतिदिन की भूख के साथ मुकदमेबाजी के लिए खर्च करने के बीच है। यह हॉब्सन की पसंद है। इसलिए, जो लोग अदालत में नहीं आ सकते, उन्हें उन लोगों की तुलना में तुलनात्मक रूप से नुकसान नहीं होना

चाहिए जो यहां अदालत में पहुंचे । यदि वे अन्यथा समान स्थिति में हैं, तो वे इस न्यायालय के हाथों किसी और के द्वारा नहीं तो समान व्यवहार के हकदार हैं।"

हम इस स्तर पर ही यह बताना चाहेंगे कि संबंधित प्रभावित व्यक्तियों द्वारा रिट याचिकाएं दायर की गई थीं जो पहले से ही न्यायालय के समक्ष लंबित थीं और यह रेलवे प्रशासन द्वारा उठाया गया कदम था जिसने उनके अवशोषण के लिए योजना तैयार की थी। ऐसी परिस्थितियों में, उक्त योजना में कट ऑफ डेट की तर्कसंगतता तय करने का प्रश्न विचार के लिए उठा और न्यायालय का विचार था कि योजना को लागू करते समय, जिनकी सेवा 01 जनवरी, 1984 से पहले समाप्त हो गई थी, उनके साथ भेदभाव किया जाएगा। अत: रेलवे प्रशासन द्वारा ही बनायी गयी योजना को क्रियान्वित करने के लिये निर्देश देते हुये, न्यायालय ने सबसे लंबी सेवा वाले लोगों को शामिल करना शुरू करने का निर्देश दिया, जो उक्त निर्णय के पैरा 6 को पढ़ने से स्पष्ट है, और हम इसे यहां पुन: प्रस्तुत कर रहे हैं:

"6. अनुच्छेद 14 के उल्लंघन से बचने के लिए, योजना को लागू करने का वैज्ञानिक और न्यायसंगत तरीका यह है कि रेलवे प्रशासन प्रत्येक रेलवे के प्रत्येक डिवीजन के संदर्भ में परियोजना आकस्मिक श्रमिकों की एक सूची तैयार करे और फिर सबसे लंबी सेवा वाले लोगों को शामिल करना शुरू कर दे। यदि इस प्रक्रिया में कोई समायोजन आवश्यक है, तो वही किया जाना चाहिए। इस निर्देश को देने में, हम औद्योगिक न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध सिद्धांत की वैधानिक मान्यता से काफी प्रभावित हैं कि सबसे लंबी सेवा वाले लोगों को उन लोगों की तुलना में प्राथमिकता दी जाएगी जो कि बाद में शामिल हुए। दूसरे शब्दों में, औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25-जी में

प्रतिपादित अंतिम आओ पहले जाओ या इसे उलटने के लिए पहले आओ और अंतिम जाओ के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है। हम तदनुसार निर्देश देते हैं।"

इसलिए, यह मामला प्रत्यक्ष प्रासंगिकता का नहीं हो सकता है।

12. अगला फैसला के.सी. शर्मा एवं अन्य बनाम भारत संघ" के मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ का फैसला है। इस मामले में न्यायालय सीधे तौर पर पहले के फैसले का लाभ देने के मुद्दे से चिंतित था। सरकार ने 05 दिसंबर, 1988 को अधिसूचना पारित की थी, जिसने स्पष्ट रूप से सेवानिवृत्त कर्मचारियों की पेंशन को पूर्वव्यापी रूप से प्रभावित किया था। इन व्यक्तियों ने सीमा अवधि के भीतर उक्त अधिसूचना को चुनौती नहीं दी थी। हालाँकि, समान स्थिति वाले व्यक्तियों द्वारा दायर कुछ अन्य मामले में, केंद्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण की एक पूर्ण पीठ ने 16 दिसंबर, 1993 के अपने फैसले में अधिसूचना को अमान्य घोषित कर दिया। इस अधिसूचना को अमान्य घोषित किए जाने के बाद, अपीलकर्ताओं ने रेलवे से उस फैसले के लाभ का भी दावा किया। रेलवे द्वारा लाभ देने से इनकार करने पर, उन्होंने अप्रैल, 1994 में केंद्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण में आवेदन दायर किया। इस आवेदन को न्यायाधिकरण द्वारा समयबाधित के रूप में खारिज कर दिया गया था और न्यायाधिकरण के फैसले के खिलाफ इन अपीलकर्ताओं ने इस न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। न्यायालय ने छह पैराग्राफों वाले एक संक्षिप्त आदेश में कहा कि आवेदन दाखिल करने में हुई देरी को माफ किया जाना चाहिए था और अपीलकर्ताओं को न्यायाधिकरण द्वारा उन्हीं शर्तों पर राहत दी जानी चाहिए थी, जो न्यायाधिकरण के पूर्ण पीठ के फैसले में दूसरों को दी गई थीं। आदेश के पहले पैराग्राफ में उपरोक्त तथ्यों को बताने के बाद, लाभ बढ़ाने के कारण उसके पैरा 6 में निहित हैं, जो निम्नानुसार है:

"6. मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार है कि यह एक उपयुक्त मामला था जिसमें न्यायाधिकरण को आवेदन दाखिल करने में हुई देरी को माफ कर देना चाहिए था और अपीलकर्ताओं को राहत दी जानी चाहिए थी, वही शर्तें जो न्यायाधिकरण की पूर्ण पीठ द्वारा दी गई थीं। इसलिए, अपील की अनुमति दी जाती है, न्यायाधिकरण के आक्षेपित फैसले को रद्द कर दिया जाता है, ओए नंबर 774 /1994 को दाखिल करने में देरी को माफ कर दिया जाता है और उक्त आवेदन को अनुमति दी जाती है। अपीलकर्ता पेंशन के मामले में उसी राहत के हकदार होंगे जो न्यायाधिकरण की पूर्ण पीठ ने अपने फैसले दिनांक 16-12-1993 में ओएस नंबर 395-403 / 1993 और संबंधित मामलों में दी है। कोई आदेश नहीं जहां तक लागत का सवाल है।"

उपरोक्त निर्णय पर हमसे जो तत्काल टिप्पणी मांगी गई है वह यह है कि उक्त आदेश में कोई विस्तृत चर्चा नहीं है। इस आदेश को पढ़ने से जो देखा जा सकता है वह यह है कि 05 दिसंबर 1988 की अधिसूचना को रद्द करने वाले न्यायाधिकरण के पहले के फैसले को रेम में निर्णय के रूप में माना गया था। स्वाभाविक रूप से, जब अधिसूचना ही रद्द कर दी गई है और यह पेंशन का मामला था, तो इसका लाभ दूसरों को भी दिया जाना था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कारण से संविधान पीठ ने कहा कि अपीलकर्ताओं को भी उसी अवधि में राहत देते हुए देरी को माफ किया जाना चाहिए था, जो न्यायाधिकरण की पूर्ण पीठ द्वारा दी गई थी।

13. कर्नाटक राज्य एवं अन्य में बनाम सी. ललिता, में जो उत्तरदाताओं के लिए विद्वान वकील द्वारा भरोसा किया जाने वाला अगला मामला है, हमारा ध्यान उक्त निर्णय के निम्नलिखित अंश की ओर आकर्षित हुआ:

29. इस न्यायालय द्वारा समय-समय पर विकसित सेवा न्यायशास्त्र यह मानता है कि समान स्थिति वाले सभी व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। केवल इसलिए कि एक व्यक्ति ने अदालत का दरवाजा खटखटाया है, इसका मतलब यह नहीं होगा कि समान स्थिति वाले व्यक्तियों के साथ अलग व्यवहार किया जाना चाहिए। यह भी अच्छी तरह से स्थापित है कि वरिष्ठता का प्रश्न नियमों द्वारा शासित होना चाहिए। यह सच हो सकता है कि इस न्यायालय ने बाद की घटनाओं पर ध्यान दिया, अर्थात्, इस बीच उन्हें सहायक आयुक्त के रूप में भी पदोन्नत किया गया था, जो कि श्रेणी I का पद था, लेकिन उसे समायोजित करने के लिए एक अतिरिक्त पद बनाने का निर्देश दिया जाना चाहिए केवल उसे उसमें समायोजित करने की दृष्टि से जारी किया गया था अन्यथा उसे वापस कर दिया गया होता, न कि ऐसा लाभ प्रदान करने के उद्देश्य से जिसके लिए वह अन्यथा हकदार नहीं थी।"

14. हमें उस संदर्भ को समझना होगा जिसमें उपरोक्त टिप्पणियाँ की गईं। यह एक ऐसा मामला था जहां समान पक्षों के बीच मुकदमेबाजी के पहले दौर में पारित आदेश निर्माण और उसके प्रभाव के लिए आया था। जिस पृष्ठभूमि में यह मुद्दा उठा, वह यह था कि राज्य की आरक्षण नीति में किए गए एक संशोधन को एन.टी. कैटल बनाम कर्नाटक लोक सेवा आयोग' में चुनौती दी गई थी। उस फैसले में, इस न्यायालय ने घोषणा की थी कि संशोधित आरक्षण नीति उससे पहले शुरू किए गए चयनों पर लागू नहीं होगी। इसके परिणामस्वरूप राज्य सरकार को एन.टी. डेविन कट्टी (उस मामले में अपीलकर्ता) को को पूर्वव्यापी प्रभाव से तहसीलदार के पद पर नियुक्त करने का निर्देश दिया गया। साथ ही, यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि वरिष्ठता के उद्देश्य

से ऐसे व्यक्तियों को अंतिम अभ्यर्थी से जो कि 1976 में नियुक्त हुआ था, से नीचे रखा जाना होगा और वे किसी भी बकाया वेतन के हकदार नहीं होंगे। जहां तक प्रतिवादी सी. ललिता का सवाल है, संशोधित आरक्षण नीति के आधार पर उन्हें तहसीलदार के पद पर नियुक्त किया गया था। एन.टी. डेविन कट्टी के मामले (उपरोक्त) में उपरोक्त निर्णय सुनाए जाने के बाद, उन्होंने सहायक आयुक्त के रूप में नियुक्ति का दावा करते हुए एक ओए दायर करके कर्नाटक प्रशासनिक न्यायाधिकरण से संपर्क किया। न्यायाधिकरण ने ओए को खारिज कर दिया। हालाँकि, न्यायाधिकरण के आदेश के खिलाफ उनकी अपील को इस न्यायालय ने 15 मार्च, 1994 के आदेशों के तहत इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अनुमति दी थी कि उनका चयन किया गया था और उन्हें पहली सूची में दिखाया गया था, जिसे एन.टी. डेविन कट्टी (उपरोक्त) के मामले में न्यायालय ने बरकरार रखा था। चूँकि वह तब तक पहले ही सहायक आयुक्त के प्रथम श्रेणी पद पर पदोन्नत हो चुकी थीं, उनकी नियुक्ति के लिए न्यायालय ने निर्देश दिया कि यदि कोई रिक्तियां उपलब्ध नहीं हैं, तो राज्य सरकार एक अतिरिक्त पद सृजित करेगी और वरिष्ठता के उद्देश्य से, उन्हें नीचे रखा जाना था। अंतिम उम्मीदवार की नियुक्ति वर्ष 1976 में हुई थी और वह किसी भी बकाया वेतन का हकदार नहीं था। इन निर्देशों से यह स्पष्ट है कि उसकी अपील को एन.टी. डेविन कट्टी (उपरोक्त) में दिए गए निर्देशों के समान ही स्वीकार किया गया था। हुआ यूं कि हालांकि उनका नाम पहली सूची में था, जिसे एन.टी. डेविन कट्टी (उपरोक्त) के मामले में बरकरार रखा गया, उनकी रैंक थोड़ी नीचे थी और उनसे ऊपर कुछ लोग थे। सामान्य श्रेणी I पदों में उनकी रैंक के अनुसार, लोक सेवा आयोग की राय लेने के बाद, सरकार द्वारा उन्हें श्रेणी I पोस्ट, सहायक लेखा नियंत्रक के पद के लिए विचार करने का निर्णय लिया गया, क्योंकि उसके द्वारा प्राप्त किये गये सहायक नियंत्रक लेखा के रूप में चयनित उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त किये गये अंको से कम थे। उन्होंने उक्त पद

स्वीकार करने और न्यायाधिकरण में दोबारा जाने से इनकार कर दिया। न्यायाधिकरण ने उसके द्वारा दायर ओए को खारिज कर दिया, न्यायाधिकरण के उस आदेश के खिलाफ उसने कर्नाटक उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया, जिसने रिट याचिका में राज्य को 15 मार्च, 1994 के आदेश को लागू करने का निर्देश दिया, जो इस न्यायालय द्वारा पहले दौर में पारित किया गया था। इस आदेश के खिलाफ उच्च न्यायालय, राज्य ने अपील की और इसकी पृष्ठभूमि में 15 मार्च 1994 के पहले के आदेश का प्रभाव विचार के लिए आया। राज्य की ओर से यह तर्क दिया गया कि 15 मार्च, 1994 के आदेश का प्रभाव पक्षकारो को उसी स्थिति में धकेलना था जैसे कि आरक्षण नीति में संशोधन नहीं किया गया था और यदि ऐसा माना जाता है, तो पूरक सूची में रखे गए प्रतिवादी को किसी भी प्रशासनिक सेवा में पद के लिए कोई दावा नहीं किया जा सकता था। यह वह तर्क है जिसे इस न्यायालय ने एक और महत्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान देते हुए स्वीकार कर लिया कि ऐसे कई व्यक्ति थे जो प्रतिवादी की तुलना में योग्यता में अधिक थे और इस न्यायालय द्वारा पारित पहले के आदेश का प्रभाव उक्त योग्यता सूची को नजरअंदाज करना नहीं हो सकता था और प्रतिवादी को कुछ ऐसा देना जो कानून में स्वीकार्य नहीं था। न्यायालय ने माना कि उम्मीदवारों के चयन के लिए योग्यता ही एकमात्र मानदंड होना चाहिए और पहले के फैसले को ऐसे समझा जाना चाहिए जैसे कि इसे कानून के अनुसार प्रस्तुत किया गया हो। ऐसा मानते हुए, न्यायालय ने यह प्रदर्शित करने के लिए कई मामले कानून भी प्रस्तुत किए कि निर्णयों को एक क़ानून के रूप में नहीं पढ़ा जाना चाहिए। यह उपरोक्त संदर्भ में है कि पैरा 29 में टिप्पणियाँ की गई हैं, जिस पर प्रतिवादी द्वारा भारी निर्भरता रखी गई है।

जब हम टिप्पणियों के प्रभाव को प्रासंगिक रूप से समझते हैं, तो हम पाते हैं कि फिर से मुद्दा पूरी तरह से अलग है।

15. पंक्ति में अगला मामला, जिस पर उत्तरदाता भरोसा करते हैं, महाराज कृष्ण भट्ट और अन्य बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य है। उस मामले में, अपीलकर्ताओं और कुछ कांस्टेबलों ने पुलिस उप-निरीक्षक (पीएसआई) के रूप में नियुक्ति के लिए 50% सीधी भर्ती कोटा से संबंधित नियमों में छूट के लिए प्रतिवादी राज्य के मुख्यमंत्री से संपर्क किया। मुख्यमंत्री कार्यालय ने बदले में महानिदेशक की सिफारिशें मांगी, जिन्होंने केवल एक व्यक्ति, हमीदुल्ला डार के नाम की सिफारिश की। हमीदुल्ला डार को तदनुसार 01 अप्रैल, 1987 से पीएसआई के रूप में नियुक्त किया गया था। इसके बाद, अन्य व्यक्तियों ने भी न्यायालय का दरवाजा खटखटाया। अब्दुल रशीद राथर के मामले में, उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने उनकी रिट याचिका को स्वीकार कर लिया। प्रतिवादी राज्य ने एलपीए दायर किया जिसे खारिज कर दिया गया, और बाद में, विशेष अनुमति याचिका भी इस न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गई। नतीजतन, अब्दुल रशीद राथर को भी पीएसआई के रूप में नियुक्त किया गया। यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि उक्त अपील में अपीलकर्ताओं ने दो अन्य लोगों के साथ, वर्ष 1987 में रिट याचिका भी दायर की थी, जिसका निपटारा 13 सितंबर, 1991 को किया गया था और पुलिस महानिदेशक को नियमों में ढील देकर पीएसआई के पद पर नियुक्ति के लिए उनके मामलों पर विचार करने का एक निर्देश जारी किया गया था। उक्त निर्देशों के अनुसरण में, पुलिस महानिदेशक ने बिना कोई कारण बताए नियुक्ति के लिए अपीलकर्ताओं के मामलों पर विचार किया और खारिज कर दिया। इन अपीलकर्ताओं ने शुरू में अवमानना याचिका दायर की, लेकिन उसके बाद रिट याचिका संख्या 3735 / 1997 के रूप में नई रिट याचिका को प्राथमिकता दी। अपीलकर्ताओं की यह रिट याचिका तब लंबित थी जब अब्दुल रशीद राथर द्वारा दायर रिट याचिका में नियुक्ति के आदेश पारित किए गए थे। उस फैसले के आधार पर, अब्दुल रशीद राथर को 01 अप्रैल, 1987 से नियुक्ति दी गई थी। इस परिदृश्य में, जब अपीलकर्ताओं की

रिट याचिका उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई के लिए आई, तो इसे अनुमति दे दी गई। अब्दुल रशीद राथर के मामले में फैसले के बाद 30 अप्रैल, 2001 का निर्णय, जिसकी इस न्यायालय ने भी पुष्टि की थी। हालाँकि, राज्य ने इसके खिलाफ अपील दायर की और इस अपील को उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने स्वीकार किया । यहां तक कि अपीलकर्ताओं द्वारा दायर समीक्षा याचिका को भी खंडपीठ ने खारिज कर दिया था। खंडपीठ के फैसले को चुनौती देते हुए विशेष अनुमति याचिका दायर की गई थी, जो महाराज कृष्ण भट्ट (सुप्रा) के मामले में विषय वस्तु थी। अनुमति मंजूर कर ली गई और अंततः अपील की अनुमति यह मानते हुए दी गई कि अपीलकर्ता भी समान व्यवहार के हकदार थे। ऐसा करते समय, न्यायालय ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ कीं:

> "23. निष्पक्षता में और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अब्दुल रशीद राथर मामले में निर्णय अंतिम हो गया था, राज्य के अधिकारियों को वर्तमान रिट याचिकाकर्ताओं को समान लाभ देकर निर्णय को शालीनता से स्वीकार करना चाहिए था। हालांकि, उन्होंने एकल न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश को चुनौती दी। उच्च न्यायालय की खंडपीठ को एकल न्यायाधीश के ओदश की पुष्टि करते हुये लैटर पेटेंट अपील को खारिज कर देना चाहिये था। हालाँकि, लैटर पेटेंट अपील को खंडपीठ द्वारा अनुमति दी गई थी और विद्वान एकल न्यायाधीश के फैसले और आदेश को अलग रखा गया था। हमारे विचार में, विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश कानूनी, उचित और न्याय, समानता और कार्रवाई में निष्पक्षता को बढ़ावा देने वाला था। इसलिए, उक्त आदेश बहाल किए जाने योग्य है।"

16. निस्संदेह, न्यायालय ने अब्दुल रशीद राथर के मामले में निर्णय का लाभ अपीलकर्ताओं को दिया। हालाँकि, जो बात ध्यान में रखने की ज़रूरत है वह यह है कि इन अपीलकर्ताओं ने अब्दुल रशीद राथर के मामले में फैसले के बाद कानूनी कार्यवाही नहीं की थी। उन्होंने समय रहते अदालत का दरवाजा खटखटाया था जब अब्दुल रशीद राथर ने भी याचिका दायर की थी।

17. दूसरी ओर, अपीलकर्ताओं के विद्वान वकील की दलील यह है कि उत्तरदाताओं ने पहले अदालत से संपर्क नहीं किया और समाप्ति आदेशों को स्वीकार कर लिया। किसी अन्य मामले में फैसले के बाद, इतनी देर से अदालत का दरवाजा खटखटाना स्पष्ट रूप से अस्वीकार्य था और ऐसी याचिका को कमियों और देरी के साथ-साथ सहमति के आधार पर खारिज कर दिया जाना चाहिए था। यह प्रस्तुत किया गया था कि ऐसी परिस्थितियों में इस न्यायालय ने इस आशय का लगातार दृष्टिकोण रखा है कि दूसरे मामले में फैसले का लाभ नहीं बढ़ाया जाना चाहिए, भले ही दोनों मामलों के व्यक्तियों की स्थिति समान हो। श्री पी.एन. मिश्रा, अपीलकर्ताओं की ओर से पेश विद्वान वरिष्ठ वकील ने इस ओर ध्यान दिलाया कि हालांकि अपीलकर्ताओं द्वारा 22 जून 1987 को आदेश पारित किए गए थे, लेकिन उत्तरदाताओं ने न्यायाधिकरण के समक्ष अपनी दावा याचिका केवल वर्ष 1996 में दायर की है यानि कि आदेश पारित होने की तारीख से 9 वर्ष की अवधि के बाद। उन्होंने मैसर्स रूप हीरे और अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य में निम्नलिखित टिप्पणियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया :

"8. अस्वीकृति के आधारो के गुणदोषके अलावा - जिस पर यह सहायता नहीं की जा सकती कि मैसर्स रिपल कुमार एंड कंपनी और मैसर्स एच. पटेल एंड कंपनी के मामलों में विशेष अनुमति याचिकाओं

की अस्वीकृति मात्र है, अपने आप में, उन निर्णयों की सत्यता पर इस न्यायालय का अपरिपक्व माना जा सकता है जिनके विरुद्ध अपील की जानी है - एक और आधार है जो मूल रूप से वर्तमान मामले को अलग करता है। याचिकाकर्ता उन दावों के लिए फिर से आंदोलन कर रहे हैं जिन पर उन्होंने कई वर्षों से कार्रवाई नहीं की थी। याचिकाकर्ता सतर्क नहीं थे, लेकिन निष्क्रिय रहने से संतुष्ट थे और उन्होंने तब तक धरने पर बैठने का फैसला किया जब तक कि किसी और के मामले का फैसला नहीं आ गया। उनके मामले पर उस मामले की समानता पर विचार नहीं किया जा सकता है जहां एक कानून को अदालत द्वारा असंवैधानिक और शून्य घोषित कर दिया गया था, ताकि व्यक्तियों को बाद में शून्य घोषित किए गए कानून की बाध्यता के तहत भुगतान किए गए धन की वसूली करने में सक्षम बनाया जा सके। इस रिट याचिका को प्राथमिकता देने में एक अस्पष्टीकृत, अत्यधिक देरी भी है जो पहली अस्वीकृति के लगभग एक साल बाद लाई गई है। मेसर्स रिपल कुमार एंड कंपनी के मामले और मेसर्स एच. पटेल एंड कंपनी के मामले में आदेशों से यह पता चलता है कि पूर्व मामले में पुनर्वैधीकरण और समर्थन के लिए आवेदन 12 मार्च 1984 को किया गया था, मोचन प्रमाण पत्र की तारीख 16 नवंबर, 1983 के चार महीने के भीतर और बाद के मामले में पुनर्वैधीकरण के लिए आवेदन 9 मार्च, 1984 के मोचन प्रमाणपत्र से लगभग तीन महीने में 20 जून, 1984 को दायर किया गया था।"

18. यह मामला आयात-निर्यात नीति, 1982-83 के पैरा 185(3) और (4) के तहत अग्रिम/अग्रिम लाइसेंस पर निर्यात दायित्व के निर्वहन के बाद निर्यात घरों को

उपलब्ध ओजीएल वस्तुओं के आयात के लिए आयात सुविधा से संबंधित है। याचिकाकर्ताओं ने बिना तराशे और बिना जड़े हीरों के आयात के लिए इस अग्रदाय लाइसेंस के लिए आवेदन किया था और उन्हें प्रत्येक में निर्धारित एफओबी मूल्य के तराशे और पॉलिश किए गए हीरों के भारत से बाहर निर्यात के लिए कुछ निर्यात प्रतिबद्धता को पूरा करने की बाध्यता के साथ यह लाइसेंस दिया गया था। याचिकाकर्ताओं के अनुसार, उन्होंने अपने निर्यात दायित्व का निर्वहन कर दिया है और इसलिए, आयात-निर्यात नीति के पैरा 185(4) के अनुसार, वे ओजीएल आईटम का आयात करने की सुविधा के हकदार थे। हालाँकि, उन्होंने निर्यात दायित्व के निर्वहन के चार साल बाद और लाइसेंस की समाप्ति के पांच साल बाद पुनर्वैधीकरण की मांग की। इस दावे को अधिकारियों ने देरी के आधार पर खारिज कर दिया था। ऐसी अस्वीकृति के एक वर्ष बाद इस न्यायालय में रिट याचिका दायर की गई थी। इन परिस्थितियों में, न्यायालय ने देर से न्यायालय का रुख करने के लिए रिट याचिका को खारिज कर दिया और इस न्यायालय द्वारा अन्य याचिकाओं में पारित आदेशों का पालन करने से इनकार कर दिया, जिसे इस आधार पर बढ़ाने की मांग की गई थी कि याचिकाएं उन याचिकाओं के समान थीं जिन्हें दूसरे मामले में प्राथमिकता दी गई थी। ।

निस्संदेह, रिट याचिका को अस्पष्टीकृत अत्यधिक देरी के आधार पर खारिज कर दिया गया था, लेकिन यह देखना आवश्यक होगा कि यह सेवा का मामला नहीं था। हालाँकि, देरी और विलंब के सिद्धांत की हमारे उद्देश्यों के लिए भी कुछ प्रासंगिकता होगी।

19. कर्नाटक राज्य एवं अन्य बनाम एस.एम. कोटराय एवं अन्य, दूसरी ओर, यह एक सेवा मामला है। यहां, उत्तरदाताओं ने शिक्षा विभाग में शिक्षक के रूप में काम करते हुए वर्ष 1981-82 के दौरान अवकाश यात्रा रियायत (एलटीसी) का लाभ उठाया। लेकिन बाद में पता चला कि उन्होंने कभी एलटीसी का लाभ उठाया ही नहीं

बल्कि रकम निकालकर उसका इस्तेमाल कर लिया। परिणामस्वरूप, वर्ष 1984-86 में वसूली की गई। इसी तरह के मामलों में कुछ व्यक्तियों ने वसूली को प्रशासनिक न्यायाधिकरण के समक्ष चुनौती दी, जिसने अगस्त 1989 में उनके आवेदनों को स्वीकार किया । उक्त निर्णय के बारे में पता चलने पर, उत्तरदाताओं ने अगस्त 1989 में न्यायाधिकरण के समक्ष देरी को माफ करने के लिए आवेदन दायर किया। न्यायाधिकरण ने देरी को माफ कर दिया और ओए की अनुमति दी। उक्त आदेश के खिलाफ अपील को इस न्यायालय ने यह कहते हुए अनुमति दी थी कि न्यायाधिकरण के पास जाने में अस्पष्ट देरी हुई थी। न्यायालय ने एस.एस.राठौड़ बनाम एम.पी.8 राज्य में संविधान पीठ मामले पर भरोसा किया, जो प्रशासनिक न्यायाधिकरण अधिनियम, 1985 के तहत प्रशासनिक न्यायाधिकरण से संपर्क करते समय किस प्रकार सीमा की गणना की जानी है, उससे संबंधित है। यहां फिर से, देरी के आधार पर, न्यायालय ने अन्य समान स्थिति वाले कर्मचारियों के संबंध में पारित फैसले का लाभ देने से इनकार कर दिया।

20. ये दोनों निर्णय, कुछ अन्य निर्णयों के साथ, यू.पी. जल निगम एवं अन्य बनाम जसवन्त सिंह और अन्य" में संज्ञान में थे। यह एक ऐसा मामला था जहां मुद्दा यूपी जल निगम के कर्मचारियों को 60 वर्ष की आयु तक सेवा में बने रहने के अधिकार से संबंधित था। हरविंद्र कुमार बनाम मुख्य अभियंता, कार्मिक में इस न्यायालय ने पहले कहा था कि ये कर्मचारी वास्तव में 60 वर्ष की आयु तक सेवा में बने रहने के हकदार थे। उपरोक्त निर्णय के बाद, उन लोगों द्वारा उच्च न्यायालय में रिट याचिकाएं दायर की गईं जो बहुत पहले सेवानिवृत्त हो गए थे। विचार के लिये उठा सवाल यह था कि क्या जो कर्मचारी अपने सेवानिवृत्ति आदेशों को चुनौती देने के लिए नहीं उठे, और इसे स्वीकार कर लिया, और अपने सेवानिवृत्ति के बाद के लाभ भी प्राप्त कर लिए, उन्हें हरविंद्र कुमार (उपरोक्त) में दिए गए निर्णय के आलोक में राहत

दी जा सकती है , न्यायालय ने देरी और देरी के सिद्धांत को लागू करते हुए लाभ बढ़ाने से इनकार कर दिया। यह माना गया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत विवेकाधीन राहत के अभ्यास में एक महत्वपूर्ण कारक कमी और देरी है। जब कोई व्यक्ति उसके अधिकारो और स्थिति के प्रति स्थिति में सतर्क नहीं है, उनकी रिट याचिका पर कुछ वर्षों के बाद इस आधार पर सुनवाई नहीं की जा सकती कि उन्हें वही राहत दी जानी चाहिए जो समान स्थिति वाले व्यक्तियों को दी गई थी जो अपने अधिकारों के बारे में सतर्क थे और उन्होंने अपनी सेवानिवृत्ति को चुनौती दी थी। पैरा 7 में, न्यायालय ने मैसर्स रूप हीरे और अन्य (उपरोक्त) से उद्धृत किया। पैरा 8 में, मैसर्स कोटराय (उपरोक्त) पर ध्यान दिया गया। लापरवाही और देरी के समान सिद्धांत पर कुछ अन्य निर्णयों को पैरा 9 से 11 में नोट किया गया है जो इस प्रकार हैं:

> "9. इसी प्रकार, जगदीश लाल बनाम हरियाणा राज्य, (1997) 6 एससीसी 538 में, इस न्यायालय ने नियम की फिर से पुष्टि की यदि कोई व्यक्ति इस मामले पर बैठने का निर्णय लेता है और फिर अदालत के फैसले के बाद जागता है, तो ऐसे व्यक्ति को कोई फायदा नहीं हो सकता। उस मामले में इसे इस प्रकार देखा गया: (एससीसी पृष्ठ 542)
>
> "देरी से एक पक्ष संविधान के अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 32 के तहत विवेकाधीन राहत पाने से वंचित हो जाता है। अपीलकर्ता लंबे समय तक अपने अधिकारों के लिए सोते रहे और जब उन्हें भारत संघ बनाम वीरपाल सिंह चौहान, (195) 6 एससीसी 684 से प्रेरणा मिली तो वे जाग गए। अपीलकर्ताओं का वरिष्ठता को फिर से बढ़ाने का बेताब प्रयास इस विलम्बित चरण में न्यायिक समीक्षा के योग्य नहीं है।"

10. भारत संघ बनाम सी.के. में धारागुप्ता, (1997) 3 एससीसी 395, इसे इस प्रकार देखा गया:

> "9. हम, हालांकि, स्पष्ट करते हैं कि हमारे निष्कर्ष के मद्देनजर कि आर.पी. जोशी बनाम भारत संघ, 1986 के ओए नंबर 497 में 17-3-1987 में दिए गए न्यायाधिकरण के फैसले से केवल जोशी को राहत मिलती है, न्यायाधिकरण के उक्त फैसले का लाभ किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता है। प्रतिवादी सी.के. धारागुप्ता (सेवानिवृत्त होने के बाद से) जोशी मामले का लाभ मांग रहे हैं। हमारे निष्कर्ष के मद्देनजर कि न्यायाधिकरण के दिनांक 17-3-1987 के फैसले का लाभ केवल जोशी को दिया जा सकता है और किसी को नहीं, यहां तक कि धारागुप्ता भी किसी राहत के हकदार नहीं हैं।"

11. पश्चिम बंगाल सरकार बनाम तरूण के. रॉय, (1997) 3 एससीसी 395 में, उनके आधिपत्य ने देरी को गंभीर कारक माना और राहत नहीं दी है। उसमें इस प्रकार देखा गया: (एससीसी पृ. 359-60, पैरा 34)

> "34. इसके अलावा, प्रतिवादी रिट याचिका दायर करने में अपनी ओर से हुई भारी देरी और लापरवाही के आधार पर किसी भी राहत के हकदार नहीं हैं। पहली दो रिट याचिकाएं वर्ष 1976 में दायर की गई थीं, जिसमें उत्तरदाताओं ने उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। 1992. 1976 और 1992 के बीच न केवल दो रिट याचिकाओं पर निर्णय लिया गया, बल्कि किसी न किसी तरह, इस मामले पर भी पश्चिम बंगाल राज्य बनाम बनाम देबदास कुमार, 1991 सप्लिमेंट (1) एससीसी 138 में इस न्यायालय द्वारा विचार किया गया था।

देरी की दलील, जो श्री कृष्णमणि कहते हैं, समान स्थिति वाले अन्य व्यक्तियों को राहत देने से इनकार करने का एक आधार होना चाहिए, जो उत्तरदाताओं के खिलाफ काम करेगा। इसके अलावा, अन्य कर्मचारी इस न्यायालय के समक्ष नहीं हैं, हालांकि वे उचित अदालतों के समक्ष अपनी शिकायतें व्यक्त कर रहे हैं, कोई आदेश पारित नहीं किया जाना चाहिए जो उनके कारण पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। ऐसी स्थिति में, हम केवल उत्तरदाताओं को कुछ राहत देने के उद्देश्य से कोई टिप्पणी करने के लिए तैयार नहीं हैं, जिसके वे कानूनी रूप से हकदार नहीं हैं, ताकि दूसरों को इससे वंचित किया जा सके, जिन्हें कानून की अदालत द्वारा इसके लिए हकदार पाया जा सकता है।"

21. न्यायालय ने इंग्लैंड के हैल्सबरी के कानूनों (पैरा 911, पृष्ठ 395) के निम्नलिखित अंश को भी उद्धृत किया:

"यह निर्धारित करने में कि क्या इतनी देरी हुई है कि लापरवाही हुई है, विचार किए जाने वाले मुख्य बिंदु हैं:

(1) दावेदार की ओर से सहमति; और

(ii) प्रतिवादी की ओर से स्थिति में कोई परिवर्तन हुआ हो।

इस अर्थ में सहमति का मतलब किसी अधिकार का उल्लंघन होने पर खड़े रहना नहीं है, बल्कि उल्लंघन पूरा हो जाने और दावेदार को इसके बारे में पता चलने के बाद सहमति देना है। दावेदार को ऐसा उपचार देना अन्याय है, जहां उसने अपने आचरण से ऐसा किया है, जिसे उचित रूप से इसकी छूट के बराबर माना जा सकता है; या जहां उसके द्वारा उचित रूप से इसकी छूट के बराबर माना जा सकता है; या जहां अपने आचरण और उपेक्षा से, हालांकि उपाय को माफ नहीं करते हुए, उसने दूसरे पक्ष

को ऐसी स्थिति में डाल दिया है, जिसमें उसे रखना उचित नहीं होगा यदि बाद में उपाय पर जोर दिया जाए। ऐसे मामलों में समय की चूक और देरी सबसे महत्वपूर्ण होती है। इन विचारो पर कमी का सिद्धांत आधारित है।

22. यह मानते हुए कि उत्तरदाताओं ने भी सेवानिवृत्ति स्वीकार करने में सहमति व्यक्त की थी, यू.पी. जल निगम की अपील को निम्नलिखित कारणों से स्वीकार किया गया था:

> "13 जैसा कि ऊपर संक्षेप में बताया गया है, कानून के कथन के मद्देनजर, प्रतिवादीगण दोषी हैं क्योंकि प्रतिवादीगणो ने सेवानिवृत्ति स्वीकार करने में सहमति व्यक्त की है और समय पर इसे चुनौती नहीं दी है। यदि वे पर्याप्त सतर्क होते, तो वे रिट याचिका दायर कर सकते थे जैसा कि अन्य लोगों ने इस मामले में किया। इसलिए, जब भी ऐसा प्रतीत होता है कि दावेदारों ने समय बर्बाद किया या उसे बर्बाद कर दिया और रिट याचिका दायर करने के लिए समय पर मौके पर नहीं पहुंचे, तो ऐसे मामलों में, अदालत को व्यैक्तिक को राहत देने में मंजूरी देने में बहुत धीमी गति से काम करना चाहिए। दूसरे, पदधारी की ओर से सहमति या छूट के सवाल पर भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या राहत दिए जाने पर अन्य पक्ष पूर्वाग्रहग्रस्त होंगे। वर्तमान मामले में, यदि प्रतिवादीगण अपनी सेवानिवृति को अधिनियम के प्रावधानों के उल्लंघन स्वरूप सेवानिवृत्ति को चुनौती देते, शायद निगम देनदारी को पूरा करने के लिए धन जुटाने के लिए उचित कदम उठा सकता था, लेकिन अपने अधिकारों का दावा न करके उत्तरदाताओं ने समय बीतने दिया और कुछ वर्षो के समय के अंतराल के बाद , उन्होंने दो वर्षों के लाभ का दावा करते हुए रिट

याचिकाएँ दायर की हैं। इसके लिए निश्चित रूप से निगम को धन जुटाने की आवश्यकता होगी, जिसका निगम के वित्तीय प्रबंधन पर गंभीर वित्तीय प्रभाव पड़ने वाला है। अदालत को ऐसे व्यक्तियों के बचाव में क्यों आना चाहिए जब वे स्वयं छूट और सहमति के दोषी हैं?"

23. अपीलकर्ताओं और प्रतिवादीगणो दोनों द्वारा उद्धृत उपरोक्त निर्णयों को पढ़ने से जो कानूनी सिद्धांत सामने आते हैं, उन्हें निम्नानुसार संक्षेपित किया जा सकता है:

(1) सामान्य नियम यह है कि जब कर्मचारियों के एक विशेष समूह को न्यायालय द्वारा राहत दी जाती है, तो अन्य सभी समान रूप से स्थित व्यक्तियों को उस लाभ को बढ़ाकर समान व्यवहार करने की आवश्यकता है। ऐसा न करना भेदभाव के समान होगा और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होगा। इस सिद्धांत को सेवा मामलों में अधिक सशक्त रूप से लागू करने की आवश्यकता है क्योंकि समय-समय पर इस न्यायालय द्वारा विकसित सेवा न्यायशास्त्र यह मानता है कि समान स्थिति वाले सभी व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। इसलिए, सामान्य नियम यह होगा कि केवल इसलिए कि समान स्थिति वाले अन्य व्यक्तियों ने पहले अदालत का दरवाजा नहीं खटखटाया, उनके साथ अलग व्यवहार नहीं किया जाएगा।"

(2) हालाँकि, यह सिद्धांत देरी और देरी के साथ-साथ स्वीकृति के रूप में अच्छी तरह से मान्यता प्राप्त अपवादों के अधीन है। वे व्यक्ति

जिन्होंने अपने मामलों में गलत कार्रवाई को चुनौती नहीं दी और उसे स्वीकार कर लिया और लंबी देरी के बाद केवल इस कारण से जागे कि उनके समकक्ष जिन्होंने समय से पहले अदालत का दरवाजा खटखटाया था, वे अपने प्रयासों में सफल हुए, तो ऐसे कर्मचारी दावा नहीं कर सकते कि समान स्थिति वाले व्यक्तियों के मामले में दिए गए निर्णय का लाभ उन तक पहुंचाया जाए। उनके साथ बाड़ लगाने वाले और लापरवाही बरतने वाले के रूप में व्यवहार किया जाएगा और देरी, और/या सहमति, उनके दावे को खारिज करने के लिए एक वैध आधार होगा। यह उन मामलों में लागू नहीं होगा जहां न्यायालय द्वारा सुनाया गया निर्णय इस इरादे से किया गया निर्णय था। सभी समान स्थिति वाले व्यक्तियों को लाभ दें, चाहे उन्होंने न्यायालय से संपर्क किया हो या नहीं। इस तरह की घोषणा के साथ अधिकारियों पर इसका लाभ समान रूप से स्थित सभी व्यक्तियों तक पहुंचाने का दायित्व आ जाता है। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न हो सकती है जब निर्णय का विषय नीतिगत मामलों से जुड़ा हो, जैसे नियमितीकरण की योजना और इसी तरह (के.सी. शर्मा और अन्य बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, उपरोक्त)। दूसरी ओर, यदि न्यायालय का निर्णय व्यक्तिगत रूप से यह मानता है कि उक्त निर्णय का लाभ न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को मिलेगा और ऐसा इरादा निर्णय में स्पष्ट रूप से बताया गया है या इसे निहितार्थ से पता लगाया जा सकता है और निर्णय की भाषा के अनुसार, जो लोग उक्त निर्णय का लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इस बात से संतुष्ट होना होगा कि उनकी याचिका किसी देरी या देरी या स्वीकृति से ग्रस्त नहीं है।

24. इस दृष्टिकोण से देखने पर, वर्तमान मामले में, हम पाते हैं कि चयन प्रक्रिया वर्ष 1986 में हुई थी। नियुक्ति आदेश वर्ष 1987 में जारी किए गए थे, लेकिन 22 जून, 1987 के आदेश द्वारा रद्द भी कर दिए गए थे। हमारे सामने उत्तरदाता हैं, ने वर्ष 1996 तक इन रद्दीकरण आदेशों को चुनौती नहीं दी गई यानि कि 9 वर्ष की अवधि के लिए। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने अपनी नियुक्तियाँ रद्द करना स्वीकार कर लिया था। वे वर्ष 1996 में तब जागे जब उन्हें पता चला कि कुछ अन्य व्यक्तियों, जिनकी नियुक्ति आदेश रद्द कर दिए गए थे, को भी राहत मिल गई। उस समय तक नौ वर्ष बीत चुके थे। पहले के फैसले ने अदालत के समक्ष पक्षों को राहत दी थी। यह उजागर करना भी उचित होगा कि ये उत्तरदाता न तो सेवा में शामिल हुए हैं और न ही उन कर्मचारियों की तरह काम कर रहे हैं जो न्यायाधिकरण के समक्ष पहले मामले में सफल हुए थे। आज तक, रद्दीकरण आदेश जारी होने के बाद 27 साल बीत चुके हैं। इसलिए, न केवल 9 साल की अवधि के बाद दावा याचिका दायर करने में अस्पष्ट देरी और लापरवाही हुई, बल्कि उन्हें आज की तारीख में, यानी 27 साल की अवधि के बाद नियुक्ति देने का निर्देश देना पूरी तरह से अन्यायपूर्ण होगा, जब इनमें से अधिकांश उत्तरदाताओं की आयु लगभग 50 वर्ष या उससे अधिक होगी।

25. उपरोक्त सभी कारणों से, हम अपील की अनुमति देते हैं और उच्च न्यायालय के साथ-साथ न्यायधिकरण के आदेश को रद्द करते हैं। हालाँकि, लागत के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

अपील स्वीकार की गई।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल सुवास की सहायता से अनुवादक अधिवक्ता नृपेन्द्र सिनसिनवार द्वारा किया गया है।

अस्वीकरण : यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिये स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उददेश्य के लिये इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यवहारिक और आधिकारिक उददेश्यो के लिये, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उददेश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।